कांट का कोटि-सम्बन्धी विचार : कुछ समस्याएँ

कांट ने अपनी प्रसिद्ध पुस्तक **क्रिटीक् ऑफ प्योर रीज़न** में बुद्धि के स्वरूप का वर्णन करते हुए बिचार की उन मूलभूत कोटियों को बताने की कोशिश की थी जो किसी भी मानवीय चिन्तन को बुद्धिनिष्ठ विचार का स्वरूप देती हैं। इन कोटियों के बारे में बहुत चर्चा हो चुकी है, लेकिन इस बात पर विशेष ध्यान नहीं दिया गया है कि कांट ने इन कोटियों को जानने का जो रास्ता अपनाया था वह उसने उन वाक्य-संरचनाओं के आधार पर किया था जिनके बिना विचार किया ही नहीं जा सकता। मानवीय स्तर पर 'विचार' भाषा के बिना असम्भव प्रतीत होता है और कांट ने वाक्यों की उन मूलभूत संरचनाओं का सहारा लिया जिनके बिना चिन्तन या विचार हो ही नहीं सकता। इस सन्दर्भ में उसने अरस्तू की दी हुई वाक्य-संरचना के स्वरूप को आधार बनाकर अपना स्वयं का चिन्तन करने की कोशिश की।

वाक्य-संरचनाओं का स्वरूप प्रथमत: इस प्रकार निर्धारित होता है कि वह वर्णनात्मक (केटेगोरीकल) या संभावनात्मक (हाइपोथेटीकल) या कि विकल्पात्मक (डिस्जंक्टिव) ?

भारतीय दर्शन में वाक्यों के इस भेद पर विशेष ध्यान नहीं दिया गया जबकि पश्चिमी दर्शन का एक प्रकार से यह मूलभूत आधार है। आज का तर्कशास्त्र तो इसी के आधार पर चलता है और इस भेद को समझे बिना न तो हम पश्चिमी दार्शनिक चिन्तन को समझ सकेंगे न भारतीय दार्शनिक चिन्तन को। साधारणत: वाक्य यही कहते हैं 'ऐसा है' या 'ऐसा नहीं है'। वाक्यों के इस स्वरूप को अरस्तू ने निरूपाधिक अध्यवसाय (केटेगोरीकल जजमेंट) नाम दिया था। पर, क्या इसके अलावा भी वाक्यों का कोई प्रकार हो सकता है? इस प्रश्न का उत्तर आमतौर पर यही होगा कि आख़िर वाक्य का और अन्य प्रकार क्या हो सकता है? पश्चिमी परम्परा में वाक्यों के इस अन्य प्रकार को दो भागों में विभाजित किया गया है— एक यह है कि 'यदि ऐसा है, तो ऐसा है, या ऐसा होगा।' वाक्यों का दूसरा प्रकार कुछ इस प्रकार से बताया गया है 'या तो ऐसा है या 'ऐसा है'। ये वाक्य अपने आप में अजीब से लगते हैं, लेकिन इन पर गहराई से विचार किया जाये तो ये

विचार के उस स्वरूप को उजागर करते हैं जो उसको वस्तुस्थिति से मुक्त स्वतन्त्रता प्रदान करता है। 'यदि' का उपयोग करते ही विचार में एक स्वतन्त्रता उत्पन्न होती है, एक उन्मुक्तता जो उसे उस बन्धन से छुटकारा दिलाती है जो उसको उस वस्तुस्थिति से बाँधे रखता है जो केवल इसी प्रकार अभिव्यक्त हो सकती है कि 'ऐसा है' या 'ऐसा नहीं है'। इस प्रकार विचार एक कल्पना लोक में विचरण करने की स्वतन्त्रता पाता है, जो कल्पना-लोक बुद्धि से संरचित होता है, इच्छा या वासना या स्वप्न से नहीं। इसके अपने नियम होते हैं जिनका बन्धन होता तो है लेकिन यह विचार का अपना बन्धन होता है। वह उस बाह्य परिस्थिति के अधीन नहीं होता जो निरूपाधिक अध्यवसाय में पायी जाती है और जिसके साथ सत्य-असत्य का प्रश्न अनिवार्य रूप से जुड़ा होता है। 'यदि' से संरचित वाक्य हमारा ध्यान उस सम्बन्ध की ओर ले जाता है जो उन वाक्यों से अभिप्रेत 'अर्थों' या वस्तुस्थितियों में होता है जिनके विषय में हम बात कर रहे होते हैं। एक बात और, 'यदि' से संरचित वाक्य कम-से-कम दो वाक्यों को जोड़कर अनिवार्यत: एक नये वाक्य की रचना करता है जबकि यह बात निरूपाधिक वाक्य में अनिवार्य नहीं होती।

'या' से संरचित वाक्य में भी दो वाक्यों का संयोजन होता है, पर वहाँ एक विकल्प प्रस्तुत किया जाता है और वह विकल्प भी विचार को स्वतन्त्रता देता है। एक ही क्षण में 'विकल्प' के द्वारा विचार सारे जगत् को अपने में आत्मसात् कर लेता है, यह कह कर कि या तो ऐसा है या ऐसा नहीं है। इस संयुक्त वाक्य में जिन वाक्यों को एक-दूसरे से विकल्प के रूप में जोड़ा गया है, वे अनिवार्य रूप से निषेधात्मक हों, ऐसा आवश्यक नहीं है। परन्तु इस प्रकार का सर्वव्यापी 'निषेध' ही हमको उस समस्त सत्ता को अपने में पकड़ने की क्षमता देता है जो बुद्धि के उस दर्प, अभिमान, अहंकार और गौरव का आधार है जिसके बल पर वह संसार को जानने का दम्भ करती है।

आधुनिक तर्कशास्त्र एक अर्थ में चिन्तन की उस स्वतन्त्रता का प्रतीक है जो उसे उसकी विषयोन्मुख ज्ञाननिष्ठता से मुक्त करता है। साधारणत: बुद्धि ज्ञान की खोज करती है और वह ज्ञान किसी विषय का होता है। बुद्धि की यह परतन्त्रता उसे हमेशा एक बन्धन के रूप में प्रतीत होती है। लेकिन उसका एक ही बन्धन नहीं होता बल्कि एक दूसरा बन्धन भी होता है जो उसे अपने ही अन्दर से उद्भूत उन नियमों के कारण होता है जो उसको सदैव यह बताते रहते हैं कि वह जो सोच रही है वह ठीक है या ग़लत। एक तरफ विषय के स्वरूप के अनुरूप होने के लिए वह अपने को बाध्य महसूस करती है, दूसरी ओर उसे हमेशा यह डर रहता है कि कहीं वह उन नियमों को तो नहीं तोड़ रही है, जिनको अगर वह तोड़ती है तो वह कभी भी अपने को ठीक नहीं समझ सकती और अगर कभी वह ग़लती से अपने को ठीक भी समझ ले तो दूसरे हज़ारों उसकी ग़लती बताने के लिए तैयार

रहते हैं। इन दोनों से स्वतन्त्रता वह किस प्रकार पाये, इसकी कहानी अभी तक लिखी नहीं गयी है। लेकिन पिछले सौ साल का तर्कशास्त्र का इतिहास इस तरह से देखा जा सकता है कि किस प्रकार बुद्धि ने इन दोनों बन्धनों से मुक्त होने की कोशिश की है।

कांट के समय तक बुद्धि को इस प्रकार देखा ही नहीं गया था। तर्कशास्त्र का एक ही रूप था, वह जो अरस्तू ने दिया था। फिर भी, कांट के चिन्तन में स्वतन्त्रता की खोज है, परन्तु एक दूसरी दिशा से। कांट बुद्धि के स्वरूप को जानना चाहता था, इसलिए कि वह उसके इस गुप्त बन्धन से मुक्ति पा सके, हालांकि उसने इसे इस रूप में नहीं देखा था।

कांट ने बुद्धि के स्वरूप की खोज जिस दिशा से की थी वह एक प्रकार से अरस्तू से ही प्रारम्भ होती है और वह वास्तव में भाषा के स्वरूप का सहारा लेकर बुद्धि के स्वरूप का निर्णय करने की चेष्टा करती है। भाषा में चिन्तन जो रूप लेता है वह सहज रूप में चार भागों में विभक्त होता है। पहला यह कि जो बात कही जा रही है वह 'सबके' बारे में है या कुछ के बारे में, या किसी व्यक्ति विशेष के बारे में। दूसरा भाग या दूसरा आयाम उसी चिन्तन का इस बारे में होता है कि आप यह कह रहे हैं कि 'ऐसा है' या 'ऐसा नहीं है'। साधारणत: चिन्तन में दो ही विकल्प उठते हैं, लेकिन कांट के अनुसार एक तीसरा विकल्प तब प्रस्तुत होता है जब आप जिस वस्तु को ज्ञान या सत्ता की दृष्टि से देख रहे हैं उसको अपोह या निषेध की दृष्टि से भी देख रहे हैं। यह बात काफी अजीब सी लग सकती है, लेकिन शायद अपोह के सिद्धान्त की याद दिलाने पर ऐसी न लगे। बौद्धों ने अपोह की सिद्धि के द्वारा यह बताने की चेष्टा की थी कि प्रत्येक वस्तु का एक निषेधात्मक पक्ष है जो उसके सत्त्व में स्वयं स्थित है। किसी वस्तु के बारे में यह कहना कि वह 'लाल' है, अपने में इस बात को भी समाहित करता है कि वह उन सब चीज़ों से अलग है जो 'लाल' नहीं हैं। इस तरह से देखने पर वह वस्तु एक साथ दो भिन्न वर्गों की सदस्य प्रतीत होने लगती है। एक वर्ग वह है जिसकी सदस्य वे सभी वस्तुएँ हैं जो लाल हैं और दूसरा वर्ग उन सभी वस्तुओं का है जो लाल नहीं हैं। इस बात को भी दो तरह से देखा या कहा जा सकता है और इस भेद को समझ लेने पर ही कांट के द्वारा बतायी गयी वाक्य की वह तीसरी कोटि समझ में आयेगी जिसे उसने 'असीम' (Infinite) का नाम दिया है। यह कहना कि कोई चीज़ लाल नहीं है, इस बात को दो तरह से समझा जा सकता है—एक यह कि जिस गुण को हम लाल कहते हैं वह उसमें नहीं है, दूसरा यह कि वह उस वर्ग की सदस्य है जो उन सभी चीज़ों से बनता है जिनमें वह गुण विद्यमान नहीं है। देखने या समझने की पहली दृष्टि निषेधात्मक है जबकि दूसरी उसको इस दृष्टि से देखती है कि वह कुछ है, उसमें कोई गुण विद्यमान है—वह गुण जिसके फलस्वरूप वह उस वर्ग की सदस्य बनती है।

प्रथम दृष्टि से यह भेद कोई विशेष महत्त्व का नहीं दिखाई देता और यह बात ग़लत भी नहीं है। लेकिन दार्शनिक तर्क बुद्धि की दृष्टि से देखने पर इसमें जो सूक्ष्म भेद दिखाई देता है उसके दूरगामी परिणाम होते हैं। कांट इसी की ओर इशारा करता है और बौद्धों का सिद्धान्त भी कुछ-कुछ इसी ओर। कांट बात को इस प्रकार प्रस्तुत करता है कि निषेधात्मक वाक्य यह स्वरूप लेता है कि ''वस्तु लाल 'नहीं' है।'' यही बात अन्य दृष्टि से देखने पर इस प्रकार कही जायेगी कि ''वस्तु 'अ-लाल' है''। अब भेद 'है' और 'नहीं' के बीच में है और उसी से वह बात उत्पन्न होती है जिसको कांट असीम कह कर बताने की कोशिश करता है।

अंग्रेज़ी में यह अधिक स्पष्ट है, क्योंकि वहाँ जो हिन्दी में 'अ-लाल' कह कर बताने की कोशिश की गई है वह 'नहीं-लाल' (not-red) के रूप में कही जाती है। अब सवाल यह है कि वह 'नहीं-लाल' क्या है। कांट और बौद्ध दोनों इस कोटि को एक ही प्रकार से देखते हैं और वह दृष्टि यह है कि इसमें वह 'सब' समाहित है जिसमें 'लाल गुण विद्यमान नहीं है'। लेकिन थोड़ा विचार करने पर इस दृष्टि में एक मूलभूत दोष दिखाई पड़ेगा। वह दोष यह सवाल पूछने पर हरेक को साफ नज़र आयेगा कि क्या जो वस्तुएँ 'नहीं-लाल' हैं उनमें हाथी, घोड़े शामिल हैं या नहीं। यह सवाल एक तरह से मूर्खता का सवाल लगेगा क्योंकि जिन गुणों के होने या न होने की बात की जा रही है वह केवल रंगों तक ही सीमित है, रंग के बाहर की कोटि में आने वाली वस्तुएँ उनका होना या न होना इस वाक्य की सार्थकता के लिए बिल्कुल बेमानी है। हाथी-घोड़े की बात छोड़ें तब क्या रूप, रस, गंध, स्पर्श आदि के गुण भी 'नहीं-लाल' में शामिल होंगे या नहीं? सीधा-साधा जवाब यह होगा कि उनको शामिल करना या नहीं करना उतना ही बेमानी है जितना हाथी-घोड़े की बात करना। लेकिन ऐसा कहते ही, यानि 'नहीं-लाल' को केवल रंगों तक ही सीमित करने पर हमारे वाक्य का स्वरूप मूलत: बदल जायेगा और कम से कम जिसको कांट ने असीम कहा है, उस 'असीमता' में इतनी कमी हो जायेगी कि उसको असीम कहना कम-से-कम उतना ठीक नहीं लगेगा जितना पहले लगता था।

इस बात की चर्चा हम यहाँ अधिक विस्तार से नहीं करेंगे क्योंकि यह पहले कई स्थानों पर कह चुके हैं, विशेषकर अपने लेख 'लॉ ऑफ कंट्रेडिक्शन एण्ड एम्पिरीकल रियालिटी' में। यहाँ तो केवल कांट ने जिस वाक्य को असीम कह कर समझने या समझाने की कोशिश की है उसी को समझने की चेष्टा है।

कांट ने वाक्यों का, या कहें भाषा का सहारा ले कर बुद्धि के स्वरूप को समझने की जो चेष्टा की थी, उसमें मात्रा, गुण और सम्बन्ध के अलावा उसने एक अन्य पक्ष को भी सामने लाने की कोशिश की थी जिसको अंग्रेज़ी में मोडेलिटी नाम दिया जाता है और जिसके बारे में कांट स्वयं इतना स्पष्ट नहीं है जितना वह वाक्यों में दूसरे भेदों के बारे में दिखाई पड़ता है। यह भेद सम्भव-असम्भव को ले

कर चलता है। हालांकि 'सम्भव' की बात न्याय में प्रमाणों के सम्बन्ध में की गयी है लेकिन एक तो उसने उसे स्वतन्त्र प्रमाण नहीं माना, दूसरे वहाँ विद्वान लोग ऐसा कहते हैं कि 'सम्भव' का वहाँ वह अर्थ नहीं है जो उस शब्द से साधारणत: समझा जाता है। जो कुछ भी हो, सम्भव समझ में आये या न आये, 'असम्भव' सबको समझ में आ सकता है। लेकिन असम्भव क्या है? और इसका कभी भी कैसे निर्णय हो सकता है कि कुछ असम्भव है, इसकी चर्चा पश्चिमी दर्शन में तो बहुत पायी जाती है लेकिन भारतीय दर्शन में तो इसका नितान्त अभाव ही दिखाई देता है। 'बंध्यापुत्र', 'आकाशकुसुम', 'शशशृंग' आदि की बात मिलती ज़रूर है पर उन पर विचार करते ही ऐसा प्रतीत होता है कि उनकी चर्चा करने वालों ने उस बात को समझा ही नहीं है जो 'असम्भव' शब्द के द्वारा बतायी गयी है।

कांट सम्भव-असम्भव की बात को ले कर भाषा में आबद्ध मनुष्य के ज्ञान के स्वरूप को इस प्रकार दिखाने की चेष्टा करता है कि वह अनिवार्य रूप से इन तीन कोटियों में विभक्त होता है। पहली कोटि स्पष्ट है 'है' या 'नहीं है' की है। मतलब यह कि बात साफ है, कोई सन्देह या झगड़े की बात नहीं है। सारे संसार का वर्णन आख़िर इसी से तो होता है कि 'है' या 'नहीं है'। पर जैसे ही हम यह कहते हैं कि हो सकता है या नहीं भी हो सकता, वैसे ही उस संसार के छिपे हुए नये आयाम का पता चलता है जो काल में भविष्य से और मनुष्य के कर्म या पुरुषार्थ से सम्बन्धित है और जिसकी ओर देखने से मनुष्य स्वतन्त्रता भी प्राप्त करता है और विड़म्बना में भी पड़ता है। पहली बार चेतना आशंका, भय और अनिश्चितता आदि से ग्रसित होती है और उसी के सन्दर्भ में वस्तुस्थिति को बदलने की या उस ओर मोड़ने की चेष्टा करती है जो उसे स्वीकार्य है या उसे प्रेय या श्रेय लगती है।

विचार के सन्दर्भ में तीसरी कोटि और भी समस्या उत्पन्न करती है, वह कोटि अनिवार्यता की है, अवश्यंभाविता की है, उसकी जिसके बारे में कुछ नहीं किया जा सकता। इसी के बीसियों अन्य नाम हैं। कोई इसे नियति कहता है, कोई किस्मत, कोई कुछ और, लेकिन इसके मूल में भावना हमेशा यही है कि जो होना है वह तो होगा ही, चाहे हम कुछ भी करें। बात हमारे हाथ की नहीं है। कार्य-कारण का अपना स्वतन्त्र नियम है, कर्म के सिद्धान्त का अपना अलग, अगर किया है तो भोगना तो पड़ेगा ही और जो कुछ है वह उसी का परिणाम है जो पहले हुआ था, और आगे जो होगा वह सब उसी का परिणाम होगा जो आज है।

एक तरफ चेतना अनन्त सम्भावनाओं को देखती है और बुद्धि ऐसा कहती प्रतीत होती है कि सब कुछ हो सकता है, दूसरी तरफ सोचने पर वह उसे विचार की मूल भ्रांति मानती है।

बौद्धिक विचार के ये दो पक्ष कांट के दर्शन में समान रूप से अवस्थित हैं और इनके बीच का अन्तर्विरोध एक प्रकार से उसके दर्शन को परिभाषित करता

है। थोड़ा और देखें तो उसी के दर्शन में नहीं, बल्कि सारे दर्शन के मूल में यह अन्तर्विरोध दिखाई देगा और दार्शनिक चिन्तन इस विरोध को दूर करने के प्रयास में सतत् संलग्न प्रतीत होगा।

काँट के चिन्तन की यह विशेषता जो उसकी कोटियों में स्पष्ट रूप से दिखाई देती है, एक नयी समस्या उत्पन्न करती है जो एक ओर 'कोटि' के स्वयं अपने उस अर्थ से उत्पन्न होती है जो कांट ने पश्चिमी दर्शन के इतिहास में उसे दिया और दूसरी ओर समस्या इस बात से उत्पन्न होती है कि कोटियों का निर्धारण कांट ने स्वयं स्वतन्त्र रूप में न करके उसने वाक्य या अध्यवसाय के आधार पर किया है, जिनके भेद का निर्धारण भी उसने स्वयं क्वान्टिटी, क्वालिटी, रिलेशन और मोडेलिटी के आधार पर अपने ग्रन्थ में दर्शाया है। कोटि का अर्थ कांट के दर्शन में और एक तरह से उसके बाद के सारे पश्चिमी दर्शन में इस अर्थ में लिया जाता है कि वह विचार या चिन्तन की उस प्रक्रिया के स्वरूप को निर्धारित करता है, जिसके बिना वह प्रक्रिया सम्भव ही नहीं हो सकती है, क्योंकि वह उस प्रक्रिया का अपना ही स्वरूप है। कहने का अर्थ यह है कि कांट के अनुसार 'सोचना', 'समझना', 'विचार करना' आदि का अर्थ ही यह होता है कि वह इन कोटियों के द्वारा संरचित और संचालित होता है। यही उसको वह स्वरूप प्रदान करती है जिसके आधार पर वह मानवीय बौद्धिक चिन्तन कहलाता है। पर यदि ऐसा है तो ये सारी कोटियाँ जो कांट ने गिनायी हैं, प्रत्येक बौद्धिक चिन्तन में अनिवार्य रूप से उपस्थित होनी चाहिएँ। अर्थात् कि सोचने-समझने का मतलब ही यह कि जो सोच-समझ रहा है, वह इन कोटियों का एक साथ प्रयोग कर रहा है। लेकिन अगर हम रिलेशन और मोडेलिटी की कोटियों को ध्यान से देखें तो हमारे सामने एक अजीब प्रश्न उपस्थित होगा। विचार में एक साथ सम्भव-असम्भव दोनों कोटियाँ तो उपस्थित नहीं हो सकतीं, क्योंकि यदि कोई चीज सम्भव है या हो सकती है तो विचार कभी यह नहीं कहेगा कि वह असम्भव है या वह हो ही नहीं सकता। लेकिन कांट दोनों को एक साथ रखता है। सम्भव-असम्भव दोनों मोडेलिटी के अन्तर्गत एक साथ कोटि का रूप लेती हैं। यही नहीं, असम्भवता में अनिवार्यता 'अनिवार्य' रूप में उपस्थित है। लेकिन कांट अनिवार्यता की कोटि को अलग रखता है और उसको भी अनिवार्यता- आगन्तुकता के रूप में उपस्थित करता है। परन्तु यह स्पष्ट नहीं करता कि आगन्तुकता और संभावना में क्या भेद है। साधारण दृष्टि में तो वे एक ही देखाई देती हैं। यही बात बीच की कोटि के सम्बन्ध में उपस्थित होती है। अस्तित्व और अनस्तित्व एक साथ कोटि का रूप कैसे ले सकते हैं? फिर जो असम्भवता है वह तो अनिवार्य रूप से अनस्ति तो होगा ही।

मोडेलिटी की बात छोड़ें और सम्बन्ध के अन्तर्गत अन्य कोटियों की बात करें तो समस्या और भी अजीब लगेगी। कांट ने इसके अन्तर्गत कार्य-कारण के प्रसिद्ध सम्बन्ध की बात की है और उसे अभ्युपगम से जोड़ने की कोशिश की है। यहाँ भी कांट ने इस सम्बन्ध को कारणता और आश्रितता के रूप में बताने की चेष्टा की है। लेकिन इस सम्बन्ध में गहराई से विचार करने पर यह उतना स्पष्ट नहीं लगेगा। क्योंकि जो कारण है वह स्वयं अपने आप में भी कार्य होता है और जो कार्य है वह कारण होता है। इस प्रकार से देखने पर न कारणता होती है न आश्रितता। यह भेद दृष्टि-भेद के कारण उत्पन्न होता है। हम जब किसी चीज़ को 'समझने' की कोशिश करते हैं तो इस समझने की प्रक्रिया को इसी रूप में क्यों समझा जाये कि वह वस्तु किस चीज़ से उत्पन्न हुई है? इस प्रकार से क्यों नहीं समझने की चेष्टा करें कि यह किस अन्य वस्तु या स्थिति को उत्पन्न करेगी? कांट ने और अन्य दार्शनिकों ने भी कार्य-कारण की कोटि को प्रथम रूप में ही देखा है, दूसरे रूप में नहीं।

इसी तरह कार्य-कारण की कोटि को कांट ने जिस तरह अभ्युपगमात्मक अध्यवसाय के साथ जोड़ने की कोशिश की है उसी प्रकार उसने विकल्पात्मक अध्यवसाय के साथ पारस्परिकता या संयुक्तता (कम्युनिटी) की कोटि को सम्बन्धित करने की चेष्टा की है। यह एक तरह से और भी अजीब लगता है क्योंकि साधारणत: तो कोई विकल्पात्मक अध्यवसाय वाक्यों से निर्देशित वस्तुस्थितियों में कोई सम्बन्ध बताता दिखाई नहीं पड़ता। वह तो केवल यही कहता है कि दो वस्तुस्थितियों में से कम-से-कम एक वस्तुस्थिति अवश्य सत्य है। इसमें संयुक्तता या पारस्परिकता की बात कहाँ से उत्पन्न हो सकती है और फिर अगर यह कोई कोटि है तो किस प्रकार की कोटि है?

यही बात सम्बन्ध के अन्तर्गत उस प्रथम कोटि के बारे में भी उठती दिखाई देती है जो उसमें वर्णनात्मक अध्यवसाय से सम्बन्धित की है। इस कोटि का नाम उसने inherence या subsistance-accidence दिया है और यह बताने की चेष्टा की है कि यह **substance** और **accidence** या द्रव्य और गुण के बीच सम्बन्ध में मिलती है। इस सम्बन्ध का भारतीय दर्शन में, नाम 'समवाय' है और इस दार्शनिक परम्परा में यह सदैव प्रश्न रहा है कि अगर यह 'सम्बन्ध' है तो कैसा सम्बन्ध है। इस सम्बन्ध में एक अजीब अनिवार्यता है और साधारणत: इसे सम्बन्ध के रूप में देखा या समझा नहीं जाता है। इस प्रकार देखने से द्रव्य कोई स्वतन्त्र कोटि न हो कर केवल इस सम्बन्ध का एक 'सम्बन्धी' मात्र है और यही बात गुण या **एक्सीडेन्ट** के बारे में भी सत्य है। यही नहीं, कांट ने इस कोटि को भी दो भागों में विभक्त कर के दर्शाया है और उन्हें **inherence** और **subsistence** का

नाम दिया है परन्तु यह स्पष्ट नहीं है कि **subsistence** से कांट का क्या मतलब है। **inherence** से तो शायद मतलब यही है कि गुण द्रव्य में उस सम्बन्ध से रहता है जिसे न्याय में समवाय कहा है। subsistence से क्या कांट का अर्थ यह है कि यह वह गुण है जिसे भारत की दार्शनिक परम्परा में समवाय का प्रतियोगी कहा जाता है? अर्थात् 'वह वह सम्बन्ध है जिससे द्रव्य गुण में रहता है। इस तरह से देखने पर न 'द्रव्य' कोई स्वतन्त्र कोटि है न 'गुण', जो कोटि है वह केवल समवाय है।

कोटि सम्बन्धी इन समस्याओं पर, जहाँ तक हमें पता है, पश्चिमी दर्शन के इतिहास में कांट के व्याख्याकारों ने कम ही ध्यान दिया है और अगर दिया भी हो तो, कम-से-कम, वह इससे सम्बन्धी दार्शनिक चिन्तन में परिलक्षित नहीं होता। इससे भी जो अधिक आश्चर्य की बात है वह यह है कि कांट ने इसी के सन्दर्भ में जो कुछ अन्य बातें कही हैं उनकी ओर तो किसी ने बिल्कुल भी ध्यान नहीं दिया। ऐसा कैसे हो सकता है, यह अपने आप में वह सवाल है जिसका उत्तर कांट सम्बन्धी दार्शनिक चिन्तन का इतिहास ही बता पायेगा। एक जो सबसे अधिक चौंकाने वाली बात है वह कांट का यह कहना है कि मात्रा और गुण के अन्तर्गत जो कोटियाँ हैं और **रिलेशन** और **मोडेलिटी** के अन्तर्गत जो कोटियाँ हैं उनमें मूलभूत भेद है; कोटियों में इस प्रकार का भेद करना 'कोटि' के विचार पर ही कुठाराघात करना है।

दूसरी बात जो इससे भी अधिक आश्चर्य में डालने वाली है वह यह है कि कांट के अनुसार गुण, मात्रा, सम्बन्ध और मोडेलिटी के अन्तर्गत तीसरी कोटि स्वतन्त्र कोटि न हो कर प्रथम दो कोटियों का ही समन्वित रूप है। यह बात कुछ-कुछ **हेगेल** की बात से समानता रखती है, जो तीसरी कोटि को पहली दो कोटियों के बीच संश्लेष के रूप में देखती है। इस तरह से देखने पर पहली दो कोटियों में जो विरोध है वह तीसरी कोटि में जा कर समाप्त होता दिखाई देता है। कांट ने इस तीसरी कोटि के आधार पर ही जनरल लॉजिक और ट्रान्सेन्डेटल लॉजिक में भेद किया है। जनरल लॉजिक में उसके अनुसार क्वान्टिटी, क्वालिटी, रिलेशन और मोडेलिटी के अन्तर्गत प्रथम दो कोटियाँ ही स्वीकार की जाती हैं जबकि ट्रान्सेन्डेन्टल लॉजिक में तीसरी कोटि को भी स्वीकार करना अनिवार्य है, पर कांट ने अपने से यह नहीं पूछा कि तीसरी कोटि के आने के बाद पहली दो कोटियों को मानने की आवश्यकता क्यों रहती है?

कांट के कोटि सम्बन्धी विचार पर कांट द्वारा ही दी गयी उक्तियों को अगर हम ध्यान से देखें तो कांट के कोटि सम्बन्धी विचार में मूलभूत परिवर्तन की ज़रूरत महसूस होगी और यह हमको उस दिशा में ले जायेगी जो कांट की

आधारभूत विचारधारा के प्रतिकूल मालूम पड़ेंगी। इस तरह से देखने पर शायद चार ही कोटियाँ शेष रह जायेंगी और जो वास्तव में मात्रा, गुण, सम्बन्ध और मोडेलिटी का ही दूसरा नाम होंगी। इनमें भी शायद कोटियाँ वास्तव में मात्रा, गुण और सम्बन्ध की ही होंगी, मोडेलिटी की नहीं। मोडेलिटी या सम्भव–असम्भव या अनिवार्य–आकस्मिक का भेद ज्ञान के अपने स्वरूप में अन्तर्निहित न हो कर उस सम्बन्ध से उत्पन्न होता दिखाई देता है जिसके द्वारा ज्ञान स्वयं आत्म चेतना या जिसे भारतीय चिन्तन में 'अनुव्यवसाय' कहा है, उसका विषय बनता है। ज्ञान में स्वयं जैसा नैयायिकों ने कहा है, विषय–विषयी भाव रहता है, परन्तु यह विषय–विषयी सम्बन्ध जब स्वयं किसी अन्य चेतना का विषय बनता है तब उसमें वे गुण उत्पन्न होते हैं जो पश्चिमी दर्शन में मोडेलिटी के नाम से जाने जाते हैं लेकिन जिनकी ओर भारतीय दर्शन में अधिक ध्यान नहीं दिया गया प्रतीत होता है।

जो भी हो, कांट के कोटि सम्बन्धी विचार पर पुनर्विचार की आवश्यकता है। ऐसा लगता है कि अब तक कांट के कोटि सम्बन्धी विचार का प्रस्तुतीकरण कुछ इस तरह किया गया है कि उसके कुछ भाग उसके **टेबिल ऑफ जजमेन्ट** से ले लिए गए हैं और कुछ अन्य भाग **टेबिल ऑफ कैटेगिरीज** से और उन पर जो उसने अपनी व्याख्या में लिखा है उसको पूरी तरह भुला दिया गया है। इसका शायद एक कारण यह भी है कि कांट के कोटि सम्बन्धी चिन्तन को न्यूटन के भौतिकशास्त्र और परम्परागत यूक्लिड की Elements पर आधारित ज्यामिति–शास्त्र से इस तरह सम्बन्धित और उन पर आधारित माना गया है जैसे उसकी अपनी कोई 'स्वतन्त्र' सत्ता हो ही नहीं और चूँकि अब बीसवीं सदी के प्रारम्भ होते–होते न न्यूटन सर्वमान्य रहा और न ही यूक्लिड की ज्यामिति और इसी कारण दार्शनिक यह मान बैठे थे कि कांट की कोटियों के बारे में ज्यादा सोचने की ज़रूरत नहीं है। कार्य–कारण के सम्बन्ध में भौतिक शास्त्र ने जो नये प्रश्न उठाये, उसका भी यही असर हुआ और कांट का कोटि सम्बन्धी विचार एक प्रकार से केवल ऐतिहासिक महत्त्व की बात समझा जाने लगा।

लेकिन बात ऐसी नहीं है। 'कोटि' का विचार एक है और 'कोटियाँ क्या है और कितनी हैं' यह प्रश्न दूसरा है। कांट ने बुद्धि के स्वरूप की चर्चा को प्रारम्भ किया और बुद्धि जब किसी विषय को जानने की चेष्टा करती है तब वह अनिवार्य रूप से कुछ कोटियों का प्रयोग करने के लिए बाध्य होती है, इस प्रश्न को उठाया। कांट का अपना उत्तर किसी को मान्य हो या न हो लेकिन उसने जो प्रश्न उठाये थे वे 'दार्शनिक बुद्धि' को हमेशा परेशान करते रहेंगे और उसको उन प्रश्नों का उत्तर ढूँढ़ने के लिए मजबूर करते रहेंगे।

कान्ट के कोटि सम्बन्धित विचार उनकी मूल पुस्तक Critique of Pure Reason से उद्धृत निम्नलिखित तीन परिशिष्टों में पाठकों के लिए प्रस्तुत है–

परिशिष्ट-1

Table of Judgments

I

Quantity of Judgments

Universal
Particular
Singular

II

Quality

Affirmative
Negative
Hypothetical
Infinite (unendliche)

III

Relation

Categorical
Disjunctive

IV

Modality

Problematic
Assertoric
Apodeictic

Table of Categories

I

Of Quantity

Unity
Plurality
Totality

II

Of quality

Reality
Negation
Limitation

III

Of Relation

Of Inherence and Subsistence
(Substantia et accidens)
Of Causality Dependence
(Cause and effect)
Of Community
(reciprocity between agent and patient)

IV

Of Modality

Possibility – Impossibility

Existence – Non-existence

Necessity – Contingency

परिशिष्ट-2

In like manner *infinite judgments* must, in transcendental logic, be distinguished from those that are *affirmative*, although in general logic they are rightly classed with them, and do not constitute a separate member of the division. General logic abstracts from all content of the predicate (even though it be negative); it enquires only whether the predicate be ascribed to the subject or opposed to it. But transcendental logic also considers what may be the worth or content of a logical affirmation that is thus made by means of a merely negative predicate, and what is thereby achieved in the way of addition to our total knowledge. If I should say of the soul, 'it is not mortal', by this negative judgment I should at least have warded off error. Now by the proposition, 'The soul is non-mortal', I have, so far as the logical form is concerned really made an affirmation. I locate the soul in the unlimited sphere of non-mortal beings. Since the mortal constitutes one part of the whole extension of possible beings, and the non-mortal the other, nothing more is said by my proposition than that the soul is one of the infinite number of things which remain over when I take away all that is mortal.

The disjunctive judgment contains a relation of two or more propositions to each other, a relation not, however, of logical sequence, but of logical opposition, in so far as the sphere of the one excludes the sphere of the other, and yet at the same time of community, in so far as the propositions taken together occupy the whole sphere of the knowledge in question. The disjunctive judgement expresses, therefore, a relation of the parts of the sphere of such knowledge, since the sphere of each part is a complement of the sphere of the others, yielding together the sum-total of the divided knowledge. Take, for instance, the judgment, 'The world exists either through blind chance, or through inner necessity, or through an external cause' or through inner necessity, or through an external cause'. Each of these propositions occupies a part of the sphere of the possible knowledge concerning the existence of a world in general; all of them together occupy the whole sphere. To take the knowledge out of one of these spheres means placing it in one of the other spheres, and to place it in one sphere means taking it out of the

others. There is, therefore, in a disjunctive judgment a certain community of the known constituents, such that they mutually exclude each other, and yet thereby determine *in their totality* the true knowledge. For, when taken together they constitute the whole content of one given knowledge.

परिशिष्ट-3

The first of the considerations suggested by the table is that while it contains four classes of the concepts of understanding, it may, in the first instance, be divided into two groups; those in the first group being concerned with objects of intuition, pure as well as empirical, those in the second group with the existence of these objects, in their relation either to each other or to the understanding.

The categories in the first group I would entitle the *mathematical*, those in the second group the *dynamical*. The former have no correlates; these are to be met with only in the second group. This distinction must have some ground in the nature of the understanding.

Further, it may be observed that the third category in each class always arises from the combination of the second category with the first.

Thus *allness* or *totality* is just plurality considered as unity; *limitation* is simply reality combined with negation; *community* is the causality of substances reciprocally determining one another; lastly, *necessity* is just the existence which is given through possibility itself. It must not be supposed, however, that the third category is therefore merely a derivative, and not a primary concept of the pure understanding. For the combination of the first and second concepts, in order that the third may be produced, requires a special act of the understanding, which is not identical with that which is exercised in the case of the first and the second. Thus the concept of a *number* (which belongs to the category of totality) is not always possible simply upon the presence of concepts of plurality and unity (for instance, in the representation of the infinite); nor can, by simply combining the concept of a cause and that of a substance, at once have understanding of *influence*, that is, how a substance can be the cause of something in another substance. Obviously in these cases, a separate act of the understanding is demanded; and similarly in the others.

Kant, "*Critique of Pure Reason*", translated by Normen Kemp Smith, Macmillan & Co. Ltd., New York, 1963.

❑